International Journal of Research in Hindi
www.hindijournal.in
ISSN: 2582-3493
Received: 21-06-2025, Accepted: 20-07-2025, Published: 06-08-2025
Volume 7, Issue 2, 2025, Page No. 3-5

कबीर–काव्य का दार्शनिक द्वंद्व

पीयूष कुमार दुबे
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, कॉलेज ऑफ़ वोकेशनल स्टडीज़, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली भारत

सारांश
यह शोध आलेख संत कबीर के काव्य में अंतर्निहित दार्शनिकता की विविध परतों का विश्लेषण करता है। कबीर की काव्यात्मक अभिव्यक्ति में जो वैचारिक वैविध्य परिलक्षित होता है, वह केवल आध्यात्मिक अनुभव की बहुलता का द्योतक नहीं, अपितु तत्कालीन सामाजिक–सांस्कृतिक जटिलताओं के प्रति उनकी संवेदनशील प्रतिक्रिया भी है।
इस आलेख में यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि कबीर–काव्य को केवल निर्गुण भक्ति के दायरे में बाँधना उसकी गहराई और व्यापकता को सीमित करना होगा, क्योंकि उनकी रचनाओं में सगुण भक्ति के पारंपरिक प्रतीक, सूफ़ी संतों की प्रेमानुभूति तथा हठयोगी साधकों की रहस्यात्मकता के भी स्पष्ट संकेत मिलते हैं। यह वैचारिक समन्वय ही उनकी रचनाओं में यदा–कदा दर्शनगत विरोधाभास उत्पन्न करता है, जो उनके समयबोध, व्यक्तित्व की बहुआयामिता और विचारधारा की जटिलता का प्रमाण हैं।
कबीर की भक्ति–दृष्टि में एक ओर आत्मानुभूत, निराकार परम तत्त्व की उपासना है, तो दूसरी ओर भक्ति की सगुण परंपरा से प्रभावित व्यवहारिक उपदेश भी हैं। यह शोध इस श्द्वंद्वश को एक समन्वयात्मक प्रक्रिया के रूप में देखने का प्रयास करता है, जो भारतीय सांस्कृतिक और दार्शनिक परंपरा की समेकित प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। कबीर के दर्शन और काव्य को समझने के लिए आवश्यक है कि उनके विचारों का मूल्यांकन केवल तात्त्विक रूप में न होकर, सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भों के आलोक में भी किया जाए।
कबीर–काव्य के इस दार्शनिक विवेचन के क्रम में ही उनके भक्ति मार्ग को भी नए सिरे से समझने का प्रयास यह आलेख करता है। वस्तुतः कबीर जो थे और उन्हें जो समझा गया, के बीच में उनका बहुत कुछ छूट गया प्रतीत होता है। इस छूटे हुए हिस्से का ही संक्षिप्त रेखांकन इस शोध आलेख का मुख्य बिंदु है।

मूल शब्दः कबीर, निर्गुण, सगुण, भक्ति मार्ग, दर्शन, रहस्यवाद, हठयोग, भक्ति

हिंदी साहित्य की सहस्रवर्षीय परंपरा में यदि महाकाव्यात्मक रचना को कवि–प्रतिष्ठा का एक मानदंड माना जाए, तो यह तथ्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि कबीर ने पारंपरिक अर्थों में किसी महाकाव्य की रचना नहीं की, फिर भी वे हिंदी के महाकवियों में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनकी रचनाएँ वैचारिक तीव्रता, सामाजिक चेतना तथा आत्मानुभूति पर आधारित भक्ति–दृष्टि से समृद्ध हैं, जो उन्हें न केवल मध्यकालीन संत काव्यधारा में विशिष्ट बनाती हैं, अपितु एक सार्वकालिक साहित्यिक व्यक्तित्व के रूप में भी स्थापित करती हैं। जैसा कि मूर्द्धन्य आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है, "३फुटकर पद और दोहे लिखकर, बिना महाकाव्य लिखे वे (कबीर) हिंदी में महाकवि हैं।"
प्रासंगिकता की दृष्टि से यदि विचार किया जाए, तो कबीर समकालीन विमर्शों में निरंतर सक्रिय दिखाई देते हैं। उनके काव्य की सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना, धार्मिक पाखंड के प्रति विद्रोही स्वर तथा मानवतावादी दृष्टिकोण वर्तमान समाज के प्रश्नों से भी उतना ही संवादशील प्रतीत होते हैं, जितना उनके अपने युग में थे। यद्यपि कबीर का जीवन–काल पाँच सौ वर्षों से अधिक पुराना है, तथापि उनकी लोकप्रियता एवं वैचारिक ऊर्जा पर समय की गति कोई प्रभाव नहीं डाल सकी है; अपितु यह कहना उपयुक्त होगा कि समय के साथ उनकी प्रासंगिकता में वृद्धि ही हुई है।
वस्तुतः कबीर ऐसे कवि हैं, जो अपने युग को भी संबोधित करते हैं और आने वाले युगों को भी चुनौती देने की क्षमता रखते हैं। यही गुण उन्हें केवल एक भक्त कवि नहीं, अपितु एक दार्शनिक, समाज–सुधारक और युग–संवादक के रूप में स्थापित करता है।
कबीर के जन्म के संबंध में अनेक कथाएँ मिलती हैं, जिनमें से एक है कि स्वामी रामानंद ने अपने एक शिष्य की विधवा कन्या को भूलवश पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया, जिससे कबीर का जन्म हुआ। तब लोकलाज के मारे वह बालक को बाहर फेंक आई जहां से नीरू नाम का जुलाहा उन्हें अपने घर ले आया और उसीके घर कबीर की परवरिश हुई। कहते हैं कि बड़े होने पर कबीर रामानंद के शिष्य बने, तो वहीं मुसलमानों का मत है कि कबीर ने फ़क़ीर सूफ़ी शेख तकी से दीक्षा ली थी। इन परस्पर विरोधी बातों के बीच सत्य यही है कि कबीर वैष्णवों के संसर्ग में भी रहे, सूफ़ी संतों की संगति भी उन्होंने की और हठयोगियों से भी कोई परहेज नहीं किया। कबीर का जो रचनात्मक व्यक्तित्व बना है, वो इन सभी सम्प्रदायों, मतों और पंथों की बातों से प्रभावित होते हुए ही आकार लेता है। इस कारण उनके काव्य–सृजन में वैविध्य तो आया है, परंतु उनके भक्ति मार्ग का दार्शनिक पक्ष बहुत कुछ जटिल भी हो गया है।
कबीर के संबंध में यह धारणा व्यापक रूप से स्वीकृत है कि वे औपचारिक रूप से शिक्षित नहीं थे। स्वयं कबीर की पंक्ति – "मसि कागद छुयो नहीं, कलम गह्यो नहिं हाथ" – संकेत करती है कि उनका काव्य–संसार पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा प्रत्यक्ष अनुभव, सामाजिक अवलोकन और आत्मचिंतन पर अधिक आधारित था। यही कारण है कि उनकी वाणी में गहन जीवनानुभव और सहज बौद्धिकता का अनोखा संयोजन दिखाई देता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, कबीर ने स्वामी रामानंद से राम नाम की दीक्षा पाई थी। बस अंतर यह हो गया कि रामानंद सगुण राम को भजते थे, लेकिन कबीर ने उनसे पाए राम को निर्गुण भाव में प्रतिष्ठित करके गाया – दसरथ सुत तिहूँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।
कबीर के लिए निर्गुण ही राम नाम का 'आना मरम' है। आलोचकों ने प्रायः कबीर के राम को इसी रूप में समझा और समझाया है। परंतु, प्रश्न यह उठता है कि अपने युगीन समाज में व्याप्त विसंगतियों पर निरंतर प्रहार करने वाले कबीर, दशरथ पुत्र राम के लोकरक्षक रूप को छोड़कर राम के रूप में एक अदृश्य–अव्यक्त निर्गुण शक्ति को क्यों भजने लगे ? कबीर

जाति–पाँति के भेदभाव को गलत मानते हैं, तो राम ने भील और वानर जैसी कथित निम्न जातियों को मैत्री का समान धरातल प्रदान कर भेदभावमुक्त समाज की स्थापना का संदेश दिया है। कबीर–काव्य त्याग और संतोष जैसे उच्च जीवन–मूल्यों पर बल देता है, तो राम ने पिता के वचन पर राज्य छोड़ चौदह वर्षों तक वन में रहकर त्याग और संतोष का उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत किया है। कबीर ने प्रेम में शीश देने यानी कि प्राण की बाजी लगा देने की महिमा गाई , तो उससे कई हजार वर्ष पूर्व राम ने अपनी धर्मपत्नी सीता के लिए समुद्र पर सेतु बाँध त्रिलोक विजेता रावण का अंत करके प्रेम का प्रमाण दिया था। कबीर आह लगने का भय दिखाकर दुर्बल को न सताने को कहते हैं , तो राम अनगिनत दुर्बलों के तारक और दुष्टों के संहारक हैं। वस्तुतः सामाजिक–सांस्कृतिक धरातल पर कबीर का काव्य जिन उद्देश्यों को साधने का यत्न करता है, सगुण राम उनमें अधिक सहायक सिद्ध हो सकते थे। फिर कबीर ने सगुण राम की शरण क्यों नहीं ली ? इसके दो कारण विचार में आते हैं। पहला कारण कि कबीर के भीतर मौजूद भक्त कवि और युगबोध से युक्त कवि में कोई एकात्म नहीं था। सृजन की ये दो भिन्न धाराएं उनमें उपस्थित थीं। भक्ति उनके लिए व्यक्तिगत और आत्मकेंद्रित विषय थी, अतः इसमें आत्मानुभूत निर्गुण का विचार उन्हें प्रीतिकर लगा। वहीं उनके मस्तिष्क में बैठे युगबोध से युक्त कवि को तत्कालीन समाज में व्याप्त विसंगतियों से पीड़ा हुई तो उसने उनका विरोध किया। भक्ति के इन दोनों रूपों का समन्वय यदि कबीर में हुआ होता तो संभवतः वे भी गोस्वामी तुलसीदास की तरह लोकरक्षक मर्यादा पुरुषोत्तम राम की शरण लेकर उनके लीला–चरित्र में ही तद्युगीन समाज के कल्याण का मार्ग खोज रहे होते।

दूसरे कारण की बात करें तो कबीर जिन श्रामश की उपासना करते हैं, वे पारंपरिक निर्गुण ब्रह्म के रूप में सर्वथा स्थिर या निरुपाय न होकर, एक बहुआयामी, बहुस्रोतात्मक एवं अनुभव–सिद्ध सत्ता के रूप में उपस्थित हैं, जिसे अब तक स्थिर अर्थ–सीमाओं में पूर्णतः परिभाषित नहीं किया जा सका है। यद्यपि सामान्यतः कबीर को निर्गुण भक्ति परंपरा का प्रतिनिधि माना जाता है, तथापि उनके काव्य में प्रयुक्त श्रामश की अवधारणा एकरेखीय या किसी एक दार्शनिक प्रणाली तक सीमित नहीं प्रतीत होती।

यह सर्वविदित है कि कबीर का व्यक्तित्व और उनका काव्य–सृजन एक ऐसे बहु–परिसंवादी सांस्कृतिक परिदृश्य में विकसित हुआ, जहाँ वैष्णव रामानंद परंपरा, नाथ–पंथ की योग–साधना, सिद्धों की तात्त्विक दृष्टि और सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद का समवेत प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। ऐसे में यह संभव है कि कबीर ने ईश्वर की जो कल्पना की, वह समय–समय पर उनके संपर्क में आए विभिन्न आध्यात्मिक मतों और विचारधाराओं के अनुरूप रूपांतरित होती रही हो।

अनुभव और साधना के विविध संदर्भों में, उनके 'राम' का स्वरूप भी एक लचीली अवधारणा के रूप में सामने आता है। कभी वह निर्गुण निराकार ब्रह्म का पर्याय बनता है, तो कभी सगुण–भाव से युक्त 'गोविंद' या 'हरि' के रूप में दिखाई देता है; वहीं सूफी रंग में वह प्रियतम, माँ या आत्मीय संबंधों से जुड़ी एक आत्मीय सत्ता का रूप भी धारण कर लेता है।

इस प्रकार, कबीर के ईश्वर का स्वरूप एक पूर्वनिर्धारित और रूढ़ प्रतिमा के बजाय एक सतत अनुभवगत एवं बहुपरिप्रेक्ष्यीय संकल्पना के रूप में देखा जाना चाहिए, जो केवल दार्शनिक दृ ष्टि से नहीं, अपितु सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक संदर्भों में भी पुनर्विचार की माँग करता है।

कबीर के कुछ दोहे द्रष्टव्य हैं

कथा–कीर्तन कुल विशे, भवसागर की नाव।
कहत कबीरा या जगत में, नाही और उपाव।।
राम बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोय।
जो सुख साधु संग में, सो बैकुंठ न होय।।

कबीर की दोहावली से लिए गए उक्त दोहे नवधा भक्ति में वर्णित कुछ भक्तियों के निकट प्रतीत होते हैं। कथा–कीर्तन, भगवान् का गुणगान, साधु की सेवा ये सब कर्म नवधा भक्ति के अंतर्गत आते हैं। नवधा भक्ति की पद्धतियाँ श्रीमद्भागवत से ली गई हैं और सगुण भक्तों द्वारा इसे अपनाया गया था। इस सगुणमार्गी भक्ति पद्धति का प्रभाव यहाँ कबीर पर स्पष्ट देखा जा सकता है।

विचारणीय यह है कि कबीर किस ईश्वर का कथा–कीर्तन और गुणगान करने को कह रहे हैं ? उनका ईश्वर तो निर्गुण–निराकार है, फिर उसका कथा–कीर्तन किस प्रकार से हो सकता है ? कथाएँ तो सगुण रूपधारी ईश्वर की ही संभव हैं। दूसरा दोहा कहता है कि राम ने बुलावा भेजा लेकिन उन्हें जाने का मन नहीं क्योंकि साधु–संत की संगति में जो सुख है, वो बैकुंठ में नहीं मिल सकता। यहाँ किस राम की बात हो रही है ? निर्गुण राम तो बैकुंठ में नहीं विराजते, वो तो विष्णु का निवासस्थान है। तो क्या यह राम विष्णु के अवतार दशरथपुत्र राम हैं ? इसी क्रम में, कबीर के ईश्वर को निर्गुण मानते हुए एक और समस्या भी दिखाई देती है, जब वे कहीं खुद को 'हरि का बालक और हरि को माँ' बताते हैं, तो कहीं हरि को पिया बनाकर खुद उनकी बहुरिया बन जाते हैं। शुक्ल जी ने यहाँ कबीर को प्रेममार्गी सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद से प्रभावित बताया है , जिसमें वे ईश्वर को अपना प्रियतम बनाकर आराधते हैं। लेकिन प्रश्न फिर भी वही है कि माँ और पति के रूप में निरूपित ईश्वर को निर्गुण कैसे कहा जाए ? क्या यह भी एक प्रकार का अवतारवाद ही नहीं है, जिसका लीलाक्षेत्र, जिसकी भावभूमि लोकव्यापी न होकर कबीर की निजी है।

इसी क्रम में कबीर के कुछ और दोहे उल्लेखनीय हैं, जो उनकी निर्गुण भक्ति की पहचान पर पुनर्विचार के गवाक्ष खोलते हैं –

जब गुण को गाहक मिले, तब गुण लाख बिकाय।
जब गुण को गाहक नहीं, तब कौड़ी बदले जाय।
हरि हीरा जन जौहरी, लै–लै मांडी हाट।
जब रे मिलेगा पारखी, तब हीरा का साट॥

पहले दोहे में जब कबीर 'गुण' की बात करते हैं, तो सहज ही यह प्रश्न मन में आता है कि क्या यह उनकी निर्गुण भक्ति की मूल स्थापना से विचलन नहीं है ? क्योंकि दार्शनिक रूप से 'निर्गुण' का तात्पर्य ही उस सत्ता से है, जिसमें कोई विशेषता, गुण, रूप या आकार नहीं होता। इसी प्रकार दूसरे दोहे में 'हरि' को 'हीरा' और साधक को 'जौहरी' कहकर कबीर ईश्वर की सत्ता को एक विशिष्ट अनुभवात्मक मूल्य के रूप में रेखांकित करते हैं। यह प्रस्तुति ईश्वर को निराकार रहस्य से कहीं अधिक एक साकार अनुभूति या उपलब्ध सत्य के रूप में चित्रित करती है। अतः इन दोहों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि कबीर का भक्ति–चिंतन सगुण और निर्गुण के पारंपरिक द्वैत से परे, एक ऐसी दृष्टि को उद्घाटित करता है जो आत्मानुभूति और साधक की चेतना के स्तर पर ईश्वर को पहचानने की प्रक्रिया को केंद्रीय स्थान देती है। वस्तुतः कबीर का काव्य एक अत्यंत जटिल और बहुआयामी दार्शनिक धरातल पर स्थित है, जिसमें विचारधारात्मक विविधता तथा विरोधाभास के अनेक स्वर दृष्टिगोचर होते हैं।

यह कहना आवश्यक है कि उक्त तर्कों–तथ्यों का उद्देश्य कबीर को सगुण भक्ति परंपरा के कवि के रूप में स्थापित करना नहीं है, क्योंकि उनके काव्य में अनेक स्थलों पर निर्गुण भक्ति की स्पष्ट छवियाँ और प्रतीक उपस्थित हैं। यहाँ केवल इतना कहने का प्रयास है कि कबीर के समग्र चिंतन को किसी एक विशिष्ट धार्मिक या दार्शनिक परिपाटी तक सीमित करके नहीं देखा जा सकता।

दरअसल, कबीर के काव्य में विभिन्न धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोणों का समावेश इस बात का द्योतक है कि वे एक ऐसे कवि थे जो समकालीन विचारधाराओं से सतत संवाद करते थे और उन पर अपनी मौलिक प्रतिक्रिया व्यक्त करते थे। यही कारण है कि उनके काव्य में एक ओर वे पंडितों और मुल्लाओं के बाह्याडम्बरों, रूढ़ियों तथा कर्मकांडों की तीव्र आलोचना करते हैं, वहीं दूसरी ओर उनके काव्य में हठयोगियों की रहस्यवादी साधनाओं और अनुष्ठानों का विस्तृत एवं सराहनापूर्ण वर्णन भी मिलता है। यह विरोधाभास केवल धार्मिक विमर्श तक सीमित नहीं है, अपितु सामाजिक स्तर पर भी परिलक्षित होता है। जातिगत भेदभाव के विरुद्ध उन्होंने तीव्र स्वर में प्रतिरोध प्रकट किया, किन्तु स्त्री के संदर्भ में उनके विचार परंपरावादी दृष्टिकोण की सीमा को लांघ नहीं सके हैं। पतिव्रता नारी के गुणगान में उन्होंने पितृसत्तात्मक मूल्यों की पुनरावृत्ति की, परंतु स्त्री–पुरुष समानता जैसे आधुनिक विचार उनके चिंतन में अनुपस्थित रहे।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचना के पश्चात् प्रश्न यह उठता है कि जब कबीर के काव्य में निर्गुण–सगुण से लेकर कर्मकाण्ड विरोधी और हठयोग समर्थक जैसी विभिन्न अर्थ–छटाओं के दर्शन होते हैं, तो फिर उनके भक्ति मार्ग का निर्धारण कैसे किया जा सकता है ? यह सच है कि कबीर की रचनाओं में निर्गुण मत पर अधिक बात हुई है, लेकिन इसपर सगुण मत, कथित सूफी मत और हठयोगी सिद्धों आदि के प्रभाव की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन सबको मिलाकर ही कबीर के भक्ति मार्ग पर विचार करना समीचीन होगा। कबीर के काव्य में प्रत्यक्ष रूप से जो दार्शनिक द्वंद्व एवं वैचारिक विरोधाभास दृष्टिगत होते हैं, वे वस्तुतः भारतीय सांस्कृतिक वाङ्मय की बहुलतावादी परंपरा का प्रतिबिंब हैं। कबीर की भक्ति, किसी एक निश्चित और सुव्यवस्थित मार्ग पर आधारित न होकर, एक बहुविध और बहुस्रोतात्मक प्रवाह के रूप में प्रकट होती है, जो विभिन्न मतों – जैसे निर्गुण ब्रह्मवाद, सगुण अवतारवाद, सूफी रहस्यवाद तथा हठयोगी साधना – से प्रेरित होकर एक अद्वितीय भक्ति चेतना का निर्माण करती है।

कबीर के निर्गुण भक्ति के स्वरूप में जहाँ आत्मानुभूति की केंद्रीयता और रूपात्मक प्रतीकों से परे की चेतना की अभिव्यक्ति होती है, वहीं सगुण भक्ति से जुड़ी नवधा भक्ति विधियों, कथा–कीर्तन आदि संदर्भों के माध्यम से उनका काव्य सगुण भक्ति–परंपरा से भी संवाद करता दिखाई देता है। यह द्वंद्व कबीर के दर्शन को अधिक जटिल बनाता है, किंतु इसी जटिलता में उनकी विचारधारा की व्यापकता और गहराई अंतर्निहित है।

कबीर के काव्य में यदि एक ओर धर्म के बाह्य आडंबरों का तीखा विरोध है, तो दूसरी ओर विभिन्न आध्यात्मिक पद्धतियों की प्रतीकात्मक स्वीकृति भी दिखाई देती है। यदि वे जाति–पाँति के विभाजन का प्रतिकार करते हैं, तो पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण के अप्रत्यक्ष समर्थन के भी कुछ संकेत उनकी रचनाओं में दिखाई देते हैं। इस विरोधाभासी संरचना को केवल असंगति मानना उनके काव्य–दर्शन के साथ न्याय नहीं होगा, क्योंकि यह द्वंद्व भारतीय दर्शन की उस बहुस्वरता का ही एक रूप है, जो एक साथ अनेक प्रतीतमान विरोधों को अपने भीतर समाहित करने की सामर्थ्य रखती है।

अतः यह निष्कर्ष उपयुक्त प्रतीत होता है कि कबीर का काव्य किसी एकसूत्रीय दार्शनिक मत या धार्मिक पंथ से जुड़ा हुआ न होकर, एक समन्वयात्मक चेतना की प्रस्तुति करता है। उनकी भक्ति व्यक्तिगत अनुभव, सामाजिक यथार्थ और पारंपरिक अध्यात्म का एक सजीव संगम है, जिसे किसी एक मत या परंपरा में सीमित करना न केवल अनुचित होगा, अपितु उनके काव्य की आत्मा को भी सीमित कर देना होगा। इस दृष्टि से, कबीर का काव्य एक सांस्कृतिक एवं दार्शनिक सेतु के रूप में कार्य करता है, जो भारतीय दर्शन की विविध धाराओं को एक व्यापक आध्यात्मिक दृष्टिकोण में रूपांतरित करने की सामर्थ्य रखता ळें

संदर्भ

1. रामस्वरूप चतुर्वेदी. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद. किंडल संस्करण, पृष्ठ – 52
2. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रकरण 2, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ – 72
3. वही, पृष्ठ – 73
4. कबीर साखी–संग्रह, वेल्वेडियर प्रेस (इलाहाबाद), संस्करण – 1912, पृष्ठ – 50
5. वही, पृष्ठ – 110
6. वही, पृष्ठ – 112
7. वही, पृष्ठ – 95
8. डॉ अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ – 199
9. कबीर ग्रंथावली, पद, राग गौड़ी, पृष्ठ – 12
10. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रकरण 2, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ 75
11. कबीर साखी–संग्रह, वेल्वेडियर प्रेस (इलाहाबाद), संस्करण – 1912, पृष्ठ – 91
12. पूर्वोक्त